THE TIMES OF INDIA

Date: 19-01-17

Warped Azadi

Trolling of Dangal actor Zaira Wasim exposes hypocrisy of Kashmir's separatists

The controversy surrounding Dangal teen actor Zaira Wasim – who was trolled on social media for her success in the film and meeting Jammu & Kashmir chief minister Mehbooba Mufti, who described her as a Kashmiri role model – has only exposed the bigotry and hypocrisy of the pro-separatist lobby in Kashmir. Zaira was subjected to sexist abuse and called an Indian agent. The pressure heaped on the 16-year-old forced her to tender an apology for her success. This in turn has seen a bevy of celebrities – from Dangal's producer and lead actor Aamir Khan to cricketers Gautam Gambhir and Mohammad Kaif – come to Zaira's defence.

The online hounding of Zaira exemplifies Kashmir's polarised atmosphere where any success achieved by a local becomes fodder for political camps. But whatever the politics of Kashmir might be, there is no justification for heaping opprobrium on a 16-year-old girl who has nothing to do with politics. In doing so, separatists don't realise that they unwittingly undermine their own cause. As Javed Akhtar has pointed out, the azadi lot apparently can't bear to see a 16-year-old have her own sense of azadi.

If sport and entertainment must also be subject to politics, can there ever be an end to political strife? Moreover what sort of a future does the separatist lobby envisage for Kashmiri youth, if the only activity they are allowed to engage in is making war on the state? The chief minister of Jammu & Kashmir has been elected by its people, surely meeting her cannot in itself constitute a crime. Against the backdrop of such wholesale bigotry and misogyny Zaira is indeed a role model for Kashmiri youth – and for youth across the country – and should be encouraged to further her acting career.

THE ECONOMIC TIMES

Date: 19-01-17

Government can't afford universal basic income; NREGA is the dole it's looking for

The government is reported to be considering a social security scheme in which it would introduce either a universal basic income or a dole restricted to the most vulnerable. Let us be clear on one thing. A universal basic income can be afforded only by a highly developed economy where government expenditure already accounts for upwards of 40% of GDP and tax collections are not far behind. India, with a tax/GDP ratio of less than 17%, is not in a position even to fairly fund basic healthcare and physical infrastructure, besides sovereign

functions of defence, internal security, currency and external relations.Universal coverage of benefits must await greater levels of prosperity and internal cohesion. A dole for the most vulnerable, on the other hand, is both feasible and desirable. More to the point, we already have it. It is called the Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act (NREGA). Its nomenclature is misleading. It is not an employment scheme, but a dole.Willingness to turn up for doing manual work figures in the scheme as a foolproof self-selection method to make sure that the village landlords also do not end up claiming the benefit.

Setting a wage level that is close to a desirable minimum wage but below it was meant to put upward pressure on rural wages and prevent NREGA work from displacing actual rural wage work. In the course of its implementation and thanks to faulty legal interventions, the original purpose of NREGA has become diffused. The task now is to refocus attention on the original NREGA scheme, channelling payments for work done under the scheme to Aadhaar-linked bank or post office accounts. There is no need to reinvent the wheel, especially when we have one merrily rolling along in the countryside at a brisk pace.

दैनिक भास्कर

Date: 19-01-17

सलमान को संदेह का लाभ पर कानून की संदेह-मुक्ति जरूरी

फिल्म स्टार सलमान खान फिर संदेह का लाभ लेकर जोधपुर की अदालत से आर्म्स एक्ट के आरोप से मुक्त हो गए हैं और इस तरह कानून और अभियोजन पक्ष को संदेह के घेरे में खड़ा कर दिया है। इससे पहले सलमान को चिंकारा मारने के आरोप से राजस्थान हाईकोर्ट बरी कर चुका है और पिछले साल मार्च के महीने में हिट-एंड-रन के एक मामले में बॉम्बे हाईकोर्ट ने उनकी पांच साल की सजा को खारिज कर उन्हें दोषमुक्त कर दिया था। जाहिर है सलमान के सितारे बुलंद हैं।

यहां उनके वकील हस्तीमल सारस्वत का वह बयान भी उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने कहा कि सलमान के विरुद्ध पूरा मामला फर्जी बनाया गया था, इसलिए वह टिक नहीं पाया। सवाल है कि क्या मामला फर्जी बनाया गया था या आधे-अधूरे तरीके से बनाया गया और उस पर पैरवी नहीं की जा सकी? अगर स्थानीय विश्नोई समाज के लोग न खड़े हुए होते तो क्या मामला इतनी दूर तक भी जा सकता था। कभी मशहूर यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने कहा था कि न्याय ताकतवर के ही फायदे की बात है। यह बात चिंकारा और काले हिरण को मारने और आर्म्स एक्ट का उल्लंघन करने से लेकर सड़क पर सोए लोगों को कुचलने तक से साबित हो रही है। उसी आर्म्स एक्ट के तहत अगर संजय दत्त को छह साल की सजा हो जाती है तो सलमान कैसे बच जाते हैं? क्या इसका मतलब यह है कि संजय दत्त पर सही आरोप लगाया गया था और सलमान पर 'हम साथ-साथ हैं' की शूटिंग के दौरान शिकार करने से लेकर मुंबई में फुटपाथ पर सोए लोगों को कुचलने तक सारे मामले फर्जी ही लगाए गए थे? इसका अंतिम फैसला तो सर्वोच्च न्यायालय करेगा, जहां इन मामलों को ले जाने का इरादा सरकार जता रही है।

निश्चित तौर पर किसी भी अभियुक्त को संदेह का लाभ मिलना चाहिए चाहे वह सामान्य हो या सलमान और संजय दत्त जैसा कोई विशिष्ट लेकिन, कुछ विशिष्ट लोगों को लगातार बरी करने वाले ये मामले हमारे न्यायिक प्रशासन और उससे जुड़े अभियोजन पक्ष की दक्षता और कार्यप्रणाली पर जरूर संदेह प्रकट करते हैं। ऐसे मामले लोगों की निगाह में यह धारणा पैदा करते हैं कि संविधान में कानून के समक्ष सभी के समान होने का दावा जरूर किया जाता है लेकिन, उसके समक्ष वीआईपी की खास जगह है। यह सोचना पुलिस प्रशासन ही नहीं न्यायिक प्रशासन का भी काम है कि इस तरह के संदेह से कानून कैसे मुक्त हो।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 19-01-17

उठाने होंगे दमदार कदम ताकि मुहिम को मिले दम

मोदी सरकार की महत्त्वाकांक्षी मेक इन इंडिया को पेश हुए दो साल से ज्यादा हो गए हैं। ऐसे में विनिर्माण वृद्धि और रोजगार सृजन की कसौटियों पर इसे कस रहे हैं राहुल खुल्लर

एक समय नारा बना मेक इन इंडिया (एमआईआई) आकांक्षाओं का प्रतीक (एक आधुनिक विनिर्माता देश) और गुणवत्ता की गारंटी (जैसे कि स्विस क्रोनोमीटर) है। एमआईआई पहल सितंबर, 2014 में शुरू हुई थी ताकि भारत में विनिर्माण को बढ़ावा मिलने के साथ ही रोजगार सृजन में तेजी लाई जा सके। उसे पेश हुए अब दो साल से अधिक हो गए हैं। ऐसे में हमने इस पैमाने पर कितनी प्रगति की है? सबसे पहले तो एमआईआई अब न तो नाम के लिहाज से नया है और न ही सामग्री के पैमाने पर। वर्ष 2009 में 'मेड इन इंडिया' नाम से एक पहल की गई थी, जो एक सफलतम भारतीय शो के रूप में उभरी। एमआईआई का एकमेव लक्ष्य विनिर्माण गतिविधियों को बढ़ावा देकर रोजगार सृजन को प्रोत्साहन देना है। यह अब विस्मृत कर दी गई राष्ट्रीय विनिर्माण नीति (एनएमपी), 2011 से ज्यादा अलग नहीं है, जिसमें जीडीपी में विनिर्माण की हिस्सेदारी बढ़ाने और 10 करोड़ नौकरियों के सृजन का उल्लेख था। एमआईआई का परिचालन संकेंद्रण कारोबार की राह को सुगम (ईडीबी) बनाने पर जोर देना था। क्यों? यह निवेश को बढ़ावा देगा, जो वृद्धि और रोजगार सृजन को सहारा देगा। ईडीबी लक्ष्यों के साथ राज्य सरकारों को एमआईआई में 'साझेदार' बनाया गया।

दो साल बीत गए हैं लेकिन विश्व बैंक द्वारा ईडीबी के पैमाने पर भारत की रैंकिंग में कोई खास सुधार नहीं हुआ है। सरकार में कुछ लोगों को छोड़कर किसी को इस पर हैरानी नहीं हुई। जरा खुद से पूछिए कि पिछले दो वर्षों के दौरान उद्योग जगत के कितने दिग्गजों ने यह बयान दिया है कि ईडीबी के मोर्चे पर हालात में सुधार हुआ है? किसी ने नहीं। यहां तक कि मौजूदा दौर में उद्योग जगत ईडीबी को लेकर शिकायत कर रहा है और हाल में आईटी उद्योग ने वित्त मंत्रालय से इस सिलसिले में बात की। लिहाजा, अपने तात्कालिक लक्ष्य की पूर्ति के लिहाज से देखा जाए तो एमआईआई को उल्लेखनीय सफलता हासिल नहीं हुई है।

जहां तक जीडीपी में विनिर्माण की हिस्सेदारी बढ़ाने की बात है तो विनिर्माण क्षेत्र की वृद्धि को तृतीयक यानी सेवा क्षेत्र से तेज करना होगा। उसकी ऐसी रफ्तार को कुछ समय के लिए कायम भी रखना होगा। मगर वर्ष 2014 से किसी भी तिमाही में ऐसा नहीं हो पाया। औद्योगिक वृद्धि ने बहुत उत्साह नहीं बढ़ाया और यह मासिक आधार पर अस्थिरता की शिकार होती रही और कई बार तो नकारात्मक भी रही लेकिन हमेशा निरंतर रूप से सुस्ती देखी गई। विनिर्माण वृद्धि के एक प्रमुख स्रोत के रूप में निर्यात में भी लगातार दो वर्षों से गिरावट का ही रुख रहा। औद्योगिक ऋण में वृद्धि भी लचर रही। कई बार तो यहां नकारात्मक दर्ज हुई।

इसका असर छोटे, मझोले और बड़े सभी उद्योगों पर हुआ। भविष्य की वृद्धि का एक अहम पैमाना पूंजी निर्माण भी सुस्ती का शिकार है और भारतीय रिजर्व बैंक का अनुमान है कि अतिरेक क्षमता 30 फीसदी हो चली है। विनिर्माण नौकरियों (एसएमई सहित) में वृद्धि अनुमानों से कम है। संक्षेप में कहा जाए तो एमआईआई के प्रमुख लक्ष्यों को हासिल नहीं किया जा सका और उनकी भविष्य की संभावनाएं भी बहुत बेहतर नजर नहीं आ रही हैं। सही कहा जाए तो सरकार बड़ी असहज या अवांछनीय स्थिति में है। विदेशी मांग कमजोर पड़ी है। घरेलू स्थिति भी बहुत अस्थिर है, निजी उपभोग में वृद्धि की रफ्तार सुस्त है, निवेश की मांग सूख गई है, औद्योगिक कायाकल्प दूर की कौड़ी लग रहा है, कृषि गंभीर संकट की जद में है और गैर निष्पादित आस्तियों का ढेर बैंकों की जान सुखा रहा है। नोटबंदी के रूप में एक और अनपेक्षित झटका लगा है। संरक्षणवाद बढऩे पर है। वैश्विक अर्थव्यवस्था और वृद्धि को लेकर जोखिम बढ़ गया है। भारत से होने वाला निर्यात संकटों से उबर नहीं पा रहा है। लिहाजा, घरेलू अर्थव्यवस्था पर ध्यान देना होगा और एमआईआई के मोर्चे पर गतिविधियां भी महत्त्वपूर्ण हैं।

सबसे पहले तो नीतिगत बयान नाकाफी हैं। उन्हें मूर्त रूप देना होगा और सरकारी स्तर, रणनीतियों, योजनाओं और कार्यक्रमों की कड़ी के रूप में पिरोना होगा। इसके अभाव में नीतिगत बयान निरर्थक होंगे। वर्ष 2011 में बनी राष्ट्रीय विनिर्माण नीति की भी यही परिणति हुई थी। दुखद रूप से एमआईआई भी उसी राह जा रहा है। सरकार को बड़े-बड़े बयानों से परे जाकर भी काम करना चाहिए। दूसरी बात यही कि संघीय ढांचे में औद्योगिक नीति एकल व्यवस्था वाले तंत्र से सर्वथा अलग होती है। केंद्र सरकार ने समय-समय पर तमाम औद्योगिक नीतियों का ऐलान किया है। उनमें से अधिकांश उस दौर की सियासत से प्रभावित राजनीतिक मंशा वाली घोषणाएं होती हैं। अपने आप में वे व्यापक रूप से बेअसर हैं।

लाइसेंस राज के दौरान केंद्र सरकार ने अपने प्रभाव का इस्तेमाल स्थान के पैमाने को प्रभावित करने में किया। संतुलित क्षेत्रीय विकास को प्रोत्साहन देने के लिए केंद्र सरकार ने सही किया। मगर उससे परे इसमें कुछ खास नहीं था। वास्तविक औद्योगिक 'नीतियां' असल में राज्यों ने बनाईं। दरअसल, जमीन, जल, बिजली, श्रम कानून, बिक्री कर/मूल्य वर्धित कर जैसे औद्योगिक इकाइयों से जुड़े अहम मसले राज्यों के अधिकार क्षेत्र में ही आते हैं। इस बीच औद्योगिक नीतियों को आकार देने और उन्हें अमली जामा पहनाने में राज्यों का प्रदर्शन खासा बेहतर रहा। जरा इस विवरण पर गौर कीजिए। 1990 के दशक में बेंगलूर एक सुस्त रफ्तार गार्डन सिटी के रूप में ही मशहूर था लेकिन एक डेढ़ दशक में इसका नाम बदलकर न केवल बेंगलूरु हो गया बल्कि यह आईटी और जैव प्रौद्योगिकी उद्योग का गढ़ बन गया। 1990 में ही गुजरात बिजली और उद्योगों की किल्लत से जूझ रहा था। आज यहां न केवल बिजली अधिशेष की स्थिति है बल्कि दो भीमकाय शोधशालाएं और भारत का सबसे बड़ा बंदरगाह और दवा उद्योग का विकसित संकुल मौजूद है। 1990 में गुडग़ांव गुमनाम शहर था लेकिन दो दशकों के दरमियान यह वाहन उद्योग, बीपीओ के दम पर बढ़ते आईटी उद्योग सहित तमाम व्यापारिक गतिविधियों का प्रमुख केंद्र बन गया। तमिलनाडु पर नजर दौड़ाएं तो महज एक दशक के दौरान ही यह राज्य वाहन वाहन विनिर्माण का बड़ा अड्डïा बन गया है और यहां के विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) विशेष रूप से कई पूर्वी एशियाई विनिर्माताओं के लिए प्रमुख आधार बने हुए हैं। आंध्र प्रदेश की सफलता गाथा भी ऐसी ही है, जहां चाहे साइबराबाद की मिसाल दी जाए या फिर श्री सिटी सेज, जो एमआईआई की सफलता का चेहरा बनाया जा रहा है।

इस सफलता की प्रमुख वजह यही थी कि राज्यों ने अपनी औद्योगिक नीतियों को आकार दिया, उद्योगों को प्रोत्साहन के रूप में राहत-रियायतें दीं और देसी-विदेशी निवेश को सक्रिय रूप से बढ़ावा दिया। विभिन्न मुख्यमंत्रियों के राजनीतिक नेतृत्व ने नीतियों का सक्षम कार्यान्वयन सुनिश्चित किया। वहीं तमाम हो हल्ले के बावजूद एमआईआई पहल के पास दिखाने के लिए बहुत कम उपलब्धियां हैं। साथ ही भविष्य में विनिर्माण वृद्धि की तस्वीर भी बहुत गुलाबी नहीं दिख रही है। स्पष्टïं रूप से एमआईआई अभियान खतरे के निशान पर है।

पहला तो यही कि एमआईआई अब भी एक नारे के रूप में ही सिमटा हुआ है। इसमें नीतिगत पक्ष या तो गायब है या उसे साफ तौर पर नुमाया नहीं किया गया है। इसे निश्चित रूप से उचित आकार दिया जाना चाहिए। दूसरा यही कि राज्यों की भूमिका केवल ईडीबी तक ही सीमित करना बुद्धिमानी नहीं थी। केंद्र और राज्यों को कंधे से कंधा मिलाकर काम करना होगा और तय करना होगा कि केंद्र को क्या कदम उठाने की जरूरत है और राज्यों की क्या जरूरतें हैं। तीसरा यही कि एमआईआई को मूर्त रूप देने की जिम्मेदारी कई मंत्रालयों की है। मिसाल के तौर पर कंपनी मामलों का मंत्रालय, कौशल विकास और श्रम मंत्रालयों की इसमें महती भूमिका है। ऐसा प्रतीत होता है कि समन्वय, कार्यक्रम निर्माण एवं संयोजन के लिए उन्हें साथ आना अभी बाकी है और ऐसा केंद्र और राज्यों दोनों के स्तर पर है। अपने मौजूदा रूप में शायद एमआईआई परवान न चढ़ सके। अभी भी बहुत ज्यादा देर नहीं हुई कि इसके कंकाल में कुछ जान डाली जाए। कल पुर्जों और पहियों से बने शेर में निश्चित रूप से कुछ हलचल नजर आनी ही चाहिए।

(लेखक ट्राई चेयरमैन रह चुके हैं। वर्ष 2009 से 2012 के बीच केंद्रीय वाणिज्य सचिव थे)

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 18-01-17

उनकी आशंकाओं में पल रहा है तीसरा विश्व युद्ध

क्या अब हम तीसरे महायुद्ध के कगार पर हैं? यूरोपीय देशों में किए गए एक सर्वे के आधार पर जान तो यही पड़ता है। इस नए सर्वे से पता चला है कि लोग भविष्य के प्रति निराशावादी हैं। उन्हें डर है कि जंग पूरी दुनिया के दरवाजे पर दस्तक दे रही है। सीरिया के खूनी संघर्ष में अलग-अलग देशों का अलग-अलग रहना, इस्लामिक स्टेट द्वारा पश्चिम एशिया में लड़ाई जारी रखने के साथ ही दुनिया भर में आतंकवादी आक्रमण किया जाना, अमेरिका के नव-निर्वाचित राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप और रूस के व्लादिमीर पुतिन द्वारा अलग ढंग से आक्रमणकारी रुख अपनाया जाना- इन सब बातों से यूरोप के नौ देशों के लोगों का मानना है कि विश्व शांति की दृष्टि से इसके पहले हम कभी दूर नहीं रहे।

अमेरिका के लोगों ने तो एक प्रकार से विश्व युद्ध की भविष्यवाणी ही कर दी है, जबकि फ्रांस, ब्रिटेन और जर्मनी के लोग भी बहुत-कुछ इसी दिशा में सोचते हैं। अमेरिका में 64 प्रतिशत लोगों का मानना है कि विश्व युद्ध कभी भी छिड़ सकता है, जबकि केवल पांच प्रतिशत लोग अभी भी विश्व शांति के प्रति आशावादी हैं। इनकी तुलना में ब्रिटेन में कुछ अधिक यानी 19 प्रतिशत लोग मानते हैं कि देशों के बीच शांति मुमकिन है, जबकि 61 प्रतिशत लोग युद्ध की आशंका से इनकार नहीं करते। इसके विपरीत स्केंडिनेवियन देशों में स्वीडन, नार्वे और फिनलैंड के लोगों का विश्वास है कि अभी युद्ध की कोई आशंका नहीं है। डेनमार्क के लोग इस मामले में सर्वाधिक आशावादी हैं। वहां 45 प्रतिशत के मुकाबले 39 प्रतिशत लोगों ने विश्व शांति की बात कही है।

सर्वे करने वाली संस्था 'यू-गव' में राजनीतिक और सामाजिक रिसर्च के डायरेक्टर एंथोनी वेल्स की राय में विश्व युद्ध का भय अमेरिका और फ्रांस में सबसे अधिक है, पर अलग-अलग कारणों से। अमेरिकी लोगों को डोनाल्ड ट्रम्प की नीतियों की अनिश्चितता से भय है, तो फ्रांस में लोगों के भय का मुख्य कारण आतंकवादी आक्रमण हैं। वे नहीं मानते कि यूरोपीय संघ को रूस से ज्यादा खतरा है, पर वे इस बात से आशंकित हैं कि इस वर्ष उनके देश पर कभी भी कोई बड़ा आतंकवादी हमला हो सकता है।

इसी सर्वे से यह भी पता चलता है कि यूरोप और अमेरिका के लोगों को रूसी आक्रमण का भय है और इनमें भी ब्रिटेन के लोग सबसे अधिक भयभीत हैं। हालांकि फिनलैंड और जर्मनी भौगोलिक दृष्टि से पहले के सोवियत संघ से अधिक नजदीक हैं। अमेरिका के 59 प्रतिशत लोगों की तुलना में ब्रिटेन के 71 प्रतिशत लोगों को रूस से भय है। इंडिपेंडेंट में प्रकाशित इस सर्वे के अनुसार, सर्वे में शामिल देशों में फिनलैंड के अतिरिक्त प्रत्येक देश के लोगों का मानना है कि इस वर्ष उनके देश में आतंकवादी आक्रमण होने की आशंका अधिक प्रबल है। आतंकवाद की दृष्टि से फ्रांस के लोग सर्वाधिक भयभीत हैं। वहां 81 प्रतिशत लोगों का विश्वास है कि आतंकवादी आक्रमण अवश्यंभावी है। सिर्फ 11 प्रतिशत लोगों का मानना है कि ऐसा आक्रमण नहीं होगा। ब्रिटेन, जर्मनी व अमेरिका में भी अधिकांश लोगों ने आतंकी हमले की आशंका व्यक्त की है, जबकि फिनलैंड में केवल 26 प्रतिशत ऐसा मानते हैं व छह प्रतिशत को ऐसी कोई आशंका नहीं दिखाई देती।

अब तक दुनिया भर में अलग-अलग देशों में 2,000 से अधिक परमाणु शस्त्रों के परीक्षण किए जा चुके हैं। स्टॉकहोम के इंटरनेशनल पीस रिसर्च इंस्टीट्यूट की एक रिपोर्ट के अनुसार, इस समय विश्व में नौ देशों के पास 15,850 परमाणु शस्त्र हैं, जिनमें से 93 प्रतिशत तो केवल रूस और अमेरिका के ही पास हैं। अन्य देशों में भारत के पास 90 से लेकर 110 तक की तुलना में पाकिस्तान के पास 100 से लेकर 120 तक हैं। जिन देशों के पास परमाणु शस्त्र हैं, उनसे आशा की जानी चाहिए कि वे बुद्धिमानी का परिचय देते हुए, समर्थ होते हुए भी किसी सूरत में ऐसे हथियारों के इस्तेमाल से दूर ही रहेंगे। साथ ही, हमें अब दुनिया के लिए ऐसे भविष्य की आशा करनी चाहिए, जहां परमाणु हथियारों के इस्तेमाल की जरूरत ही न रहे। यह लक्ष्य हम अपने जीवन काल में भले ही न प्राप्त कर सकें, लेकिन इस दिशा में निरंतर प्रयास आकस्मिक तबाही की आशंका को रोक सकता है।

महेंद्र राजा जैन, वरिष्ठ हिंदी लेखक (ये लेखक के अपने विचार हैं)

THE HINDU

Date: 18-01-17

The real meaning of independence for RBI

The demonetisation decision has led several observers to express concern about the autonomy and institutional integrity of the Reserve Bank of India (RBI). Many of those against demonetisation on a matter of principle (or practice) are blaming the RBI for 'caving in' to the government's diktat and surrendering its independence. But in holding that view, they are betraying a great deal of misunderstanding about precisely what autonomy for the RBI entails. The RBI is not a self-governing Republic.

A cursory reading of the RBI Act (Section 7 on Management) lays out things quite unambiguously. Part (1) of Section 7 states: "The Central Government may from time to time give such directions to the Bank as it may, after consultation with the Governor of the Bank, consider necessary in the public interest." Parts (2) and (3) spell out the roles for the Central Board and Governor. There is a clear 'seniority' principle with (1) taking precedence over (2) which takes precedence over (3).

Unsurprisingly, the decision to demonetise high-denomination currency was taken by the government in public interest after consultation with the RBI. Whether the government or the RBI issued the first memo on the matter is just squabbling over the irrelevant. The RBI Board did its duty by ratifying/recommending the action and it was then left to the Governor and his officers to implement the decision. Any other sequence of events would be disturbing. Surely, the RBI could not take a policy decision as major as demonetisation unilaterally. Nor indeed could it turn it down unilaterally.

Ensuring low and stable inflation

It is critical to understand what autonomy and institutional integrity mean for a central bank like the RBI. The RBI, like most central banks, consists of technocrats and bureaucrats who are unelected and not directly accountable to the people. In a democracy, the final responsibility of all policy decisions must lie with the elected representatives of the people, either the government or Parliament or both. The notion of central bank independence first gained traction in the advanced economies when it was noticed that elected governments often chose to disregard price stability in favour of growth, especially in the run-up to elections. This behaviour only raised and entrenched inflationary expectations to the medium-term detriment of the economy.

The central goal of central bank independence was to ensure low and stable inflation via the autonomous conduct of monetary policy. It is important to note that is not the central bank's discretion to decide what the targeted rate of inflation ought to be (or indeed what the optimum rate of growth should be); that remains the job of the elected government. But once that target is laid down, the central bank must ensure that it meets those targets with complete operational autonomy.In India, until the monetary policy framework and an inflation target were spelt out last year, it was the RBI which decided what a reasonable rate of inflation should be. To be accurate, it was the RBI Governor — just one person — who had complete control over monetary policy goals and decisions. That was vesting too much independence in an unelected official. The proper way to conduct monetary policy is via explicit goals laid out by the elected government which are then executed by a group of experts — a Monetary Policy Committee — rather than one individual, without any interference from the government.Still, on the setting of interest rates, even before the creation of an explicit monetary policy framework, the RBI has had its autonomous way under successive governors and with different political dispensations in office. This has led to tensions between the Finance Ministry and the RBI but rarely, if ever, any encroachment on the RBI's space.

Debt management

Consider also RBI's roles beyond the conduct of monetary policy. The RBI is the government's debt manager, a function that has been proposed to be hived out to an independent debt management agency but resisted by the central bank. The separation of debt management from the RBI is not an assault on the RBI's independence by the government. Instead, it is to remove the conflict of interest that exists in the RBI's functions of setting interest rates, and management of the government's debt. The latter could influence the former when it ought not to. The RBI's independence to carry out its primary mandate, the efficient conduct of monetary policy, will only be enhanced by hiving off the debt management function.The third major role played by the RBI is in the regulation of the banking system. Like any regulatory agency, RBI must be allowed to operate at an arm's length from the government while doing its work. Again, there is no evidence to suggest that the government

has interfered in any way. Remember that the government plays a separate role in the banking sector as the owner of public sector banks which control nearly 70 per cent of all lending. The RBI is the regulator, not owner, of banks. Unsurprisingly, both the RBI and the government play critical and visible roles in banking but that does not mean that they are stepping on one another's turf.

There has not been any assault on the RBI's autonomy — in the setting of interest rates or in the regulation of banks or in other operational spheres. The government, when it exercises its right as sovereign, whether to set an inflation target or to demonetise high-value currency, is acting well within the norms of the law and the spirit of democracy. Any attempt by unelected officials to obstruct would only be abuse of their autonomy.

Dhiraj Nayyar is Officer on Special Duty and Head, Economics, Finance & Commerce, NITI Aayog. Views are personal and do not reflect the views of NITI Aayog.

राष्ट्रीय सहारा

Date: 18-01-17

गैर बराबरी की खाई

यह कोई नई खबर नहीं है कि देश की संपत्ति पर मुट्ठी भर लोगों के हाथ में है, न ही यह खबर नई है कि आर्थिक उदारीकरण के बाद देा में संपत्ति और आय का बंटवार बेहद असंतुलित हुआ है। अरसे से यह आकलन र्चचा में है कि देश की 98 फीसद संपत्ति पर महज 1 फीसद लोगों का कब्जा है। यों तो आजादी के बाद से ही हमारी मिश्रित अर्थव्यवस्था में संपत्ति का केंद्रीकरण होने लगा था और आमदनियों में भी काफी फर्क रहा है। लेकिन आर्थिक उदारीकरण के बाद तो आमदनियों में बेहिसाब फर्क आ गया है। इस दौर में विकास पर ऐसी र्चचाएं हुई कि बढ़ती गैर-बराबरी से आंख मूंद लिया गया। उसकी र्चचा भी दकियानूसी मानी जाने लगी। दलील यह थी कि विकास जितनी तेजी से होगा यानी एक वर्ग में संपत्ति जितना अधिक बढ़ेगी, उतनी ही तेजी से वह रिस कर नीचे की ओर पहुंचेगी।इस तरह देश में निचले आदमी की भी क्रय-शक्ति बढ़ती रहेगी। इसे "ट्रिकल डाउन सिद्धांत' कहा गया। लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि नीचे के लोगों की आमदनी इतनी छीजने लगी कि वे थोड़ी भी बचत के काबिल नहीं रहे। पिछले एक दशक में नीचे के लोगों में अनिश्चितताओं का दायरा लगातार बढ़ता गया है। इसका असर किसानों की आत्महत्या के रूप में भी दिखा है। यह भी एक वजह है कि नोटबंदी से रोजगार गंवाने के कारण सबसे ज्यादा निचले पायदान के लोगों को ही तकलीफ उठानी पड़ रही है। हालांकि नोटबंदी के समर्थकों और सरकारी पैरोकारों की बात पर यकीन करें तो नोटबंदी का एक मकसद लगातार आय में बढ़ती असामनता को भी कम करना है। लेकिन अभी तक ऐसे बेहद कम उदाहरण हैं कि अमीरों को किसी तरह का संकट उठाना पड़ा हो। अगर कृषि उपज फल-सब्जियों की बात छोड़ दें तो खुदरा बाजार में महंगाई भी नहीं घटी है। यह भी कहा जा रहा था कि इससे जमीन-जायदाद की कीमतें कुछ घटेंगी और उनसे भी असमानता कुछ कम करने में मदद मिलेगी। लेकिन यह भी होता नहीं दिख रहा है। अगर सरकार वाकई गंभीर है तो उसे बजट में ऐसे उपाय करने चाहिए, जिनसे गरीबों की आय बढ़ाने, उन्हें रोजगार की सुरक्षा देने का माहौल पैदा हो। सिर्फ रियायतें अगर बड़े उद्योगों को दिया जाता रहेगा तो इससे एकतरफा विकास ही होता रहेगा। आखिर देश में आमदनी और संपत्ति के बंटवारे का मामला बाजार के हवाले नहीं छोड़ा जा सकता, खासकर जिस पर बड़ी पूंजी का नियंतण्रहो।